

# कितने पाकिस्तान : प्रेत का बयान



प्रफुल्ल कोलख्यान

‘ओ रे प्रेत’-

कड़ककर बोले नरक के मालिक यमराज

सच सच बतला कैसे मरा तू ?

भूख से, अकाल से ?

बुखार, कालाजार से ?

पेचिश, बदहजमी, प्लेग, महामारी से ?

कैसे मरा तू ,सच सच बतला !<sup>1</sup>

- नागार्जुन

इधर हिंदी में कई महत्वपूर्ण उपन्यास आये हैं। इन में से काशीनाथ सिंह का ‘काशी का अस्सी’, दूधनाथ सिंह का ‘आखिरी कलाम’, और कमलेश्वर का ‘कितने पाकिस्तान’ के अंतस्संबंध की सामाजिक सूत्रात्मकताओं को ‘कितने पाकिस्तान’ के विशेष संदर्भ में समझने का एक छोटा-सा प्रयास यहाँ किया गया है। इन उपन्यासों को एक साथ

प्रफुल्ल कोलख्यान: कितने पाकिस्तान : प्रेत का बयान: पृ. 1, कुल पृ. 12

ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि हिंदी में उपन्यासों के नये दौर की शुरुआत हो चुकी है। मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि हिंदी उपन्यास का यह नया दौर एक रतह से काफी मुश्किल भरा भी है। इस मुश्किल को समझना जरूरी है। इन उपन्यासों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों को चिह्नित करने की कोशिश की जाये तो धार्मिकता, सांप्रदायिकता, जातीय अस्मिता, स्त्री-विमर्श, जनतंत्र, दलित-विमर्श, हाशिये की केंद्रीयता जैसी चिंता और चेतना से इनके गहरे रचानात्मक सरोकारों को बेहिचक लक्षित किया जा सकता है। कहना न होगा कि इनका सीधा संबंध उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण से जुड़ा है। क्योंकि एकध्रुवीय विश्व की परियोजना के इस त्रिजटात्मक बनक का भी गहरा जुड़ाव, उलझाव और प्रभाव धार्मिकता, सांप्रदायिकता, जातीय अस्मिता, स्त्री-विमर्श, जनतंत्र, दलित-विमर्श, हाशिये की केंद्रीयता के संदर्भ में साफ-साफ पढ़ा जा सकता है। यह अलग बात है कि इस त्रिजटात्मक बनक के व्यावहारिक अंतर्संयोजन में जितना सहमेल है उतना और वैसा सहमेल इन उपन्यासों में विन्यस्त सामान्य प्रवृत्तियों के रचनात्मक अंतर्संयोजन में नहीं निभ पाया है। जीवन में ये उतने अलग-अलग नहीं हैं जितने अलग-अलग ये उपन्यासों में हमें हासिल होते हैं। हमारी बांग्ला में एक कहावत है, कान टानले माथा आसे। सामान्य अर्थ यह कि कान खींचने से सिर को खींचा जा सकता है। विशिष्ट अर्थ यह कि अपनी बात की ओर अगर किसी का ध्यान खींचने में हम कामयाब होते हैं, तो उसके दिमाग में अपने विचार के लिए जगह बना पाने में भी कामयाब होते हैं। अपनी बात, अर्थात् जीवन की बात। जीवन की बात अपने समय की संवेदना के प्रमुख निर्मायक तत्वों के सुघड़ समुच्चय में ही रहती है। हमारे समय की संवेदना के प्रमुख निर्मायक तत्वों के सुघड़ समुच्चय का नाम है, रोजगार। तकनीकी जटिलताओं में गये बिना भी कहा जा सकता है कि पूँजीवादी-व्यवस्था की सामाजिकता के प्राण रोजगार के सुपरिभाषित और सुनिश्चित होने में बसते हैं। धार्मिकता, सांप्रदायिकता, जातीय अस्मिता, स्त्री-विमर्श, जनतंत्र, दलित-विमर्श, हाशिये की केंद्रीयता के सामाजिक संदर्भों को देखा जाए तो विकास के ढाँचों और अंतर्वस्तु के वितरण और विकेंद्रण की प्रणाली में सुपरिभाषित और सुनिश्चित रोजगार के सूखते अवसरों के कारण उत्पन्न और आसन्न अकाल से उन्हें जोड़े बिना बात पूरी नहीं होती है। रोजगार का अभाव ही अकाल है। इस ओर ध्यान दिलाते हुए प्रो. अमर्त्य सेन कहते हैं, 'खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं

उपलब्धता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।<sup>2</sup> एकध्रुवीय विश्व की परियोजना के त्रिजटात्मक दुश्चक्र के कारण पूरी दुनिया में रोजगार के अवसर छीजते रहे हैं। स्थिति यह है कि 'मानव विकास का महत्वपूर्ण आधार है आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है।... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।<sup>3</sup> भूमंडलीय संदर्भ में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय संदर्भ में भी इस बात को लक्षित किया जा रहा है कि विकास का एक क्षेत्रीय प्रसंग होता है। हिंदी क्षेत्र में तो आर्थिक विकास और रोजगार वृद्धि के लिए न तो कोई चिंता है, न चेतना है। और, 'उधर मेरे अपने लोग/ बेघर बेदाना बेपानी बिना काम मेरे लोग/ चिंदियों की तरह उड़े चले जा रहे हर ठौर'<sup>4</sup>। पूरे हिंदी गोल में रोजगार का भयंकर अभाव है।

## रोजगारविहीन

लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान में मारक गिरावट के आते क्या देर

लगती है! रोजगारहीन अर्थात् निर्धन और भूखों को कोई धर्म नहीं होता है। धर्म ही क्यों, कुछ भी नहीं होता है। सिर्फ भूख होती है। भूख जीवन में फैला वह अंधकार है जो जीवन के हर रंग को सोख लेता है। अकालग्रस्त भुक्खड समाज में धार्मिकता, सांप्रदायिकता, जातीय अस्मिता, स्त्री-विमर्श, जनतंत्र, दलित-विमर्श हो या हाशिये की केंद्रीयता ही क्यों न हो इनका सामाजिक या वैयक्तिक प्रसंग बन ही नहीं पाता है। इसलिए धार्मिकता, सांप्रदायिकता, जातीय अस्मिता, स्त्री-विमर्श, जनतंत्र, दलित-विमर्श और हाशिये की केंद्रीयता के सवाल को रोजगार की उपलब्धता के अभाव से उत्पन्न जीवन-संघर्ष को रचनात्मक स्तर पर बरते बिना साहित्य को जीवन की मूल संवेदना से जोड़ पाना मुश्किल है। फिर जब हम हिंदी उपन्यासों के बारे में बात करते हैं तब हिंदी समाज को उससे अलग रखकर कैसे चल सकते हैं। आलोचना साहित्य के पाठ की संवेदना के मूल सरोकारों की सामाजिक सूत्रबद्धता को विवेकसम्मत भावप्रवणता की सांस्कृतिक सौंदर्य चेतना के पुष्पधनु की तनी हुई प्रत्यंचा में बदलने का भी काम करती है। इसलिए भी आलोचना को रचना के वैयक्तिक दिखनेवाले

भावाकाश में भी रचना के सामाजिक पर्यावरण की तलाश करनी होती है। भारतीय गाँव, खासकर हिंदी पट्टी के पारंपरिक गाँवों की संरचना को देखें तो इसमें वास की बनावट की ओर हमारा ध्यान सहज ही चला जाता है। गाँवों में वास की बनावट ऐसी कि तथाकथित उच्च जाति के लोगों का टोला अलग तो तथाकथित निम्नजाति का टोला अलग। उनकी हैसियत अलग। खान-पान अलग। रहन-सहन अलग। ताम-झाम अलग। रीति-रिवाज अलग। मूलतः यह दृश्य अलगपन संरचनागत, अर्थात् ढाँचागत, ही होता है। अदृश्य रहता है तत्वगत, सारगत या अंतर्वस्तुगत ऐक्य। संस्कृति के इन दृश्य-अदृश्य उपादानों का एक अद्भुत खेलता चलता रहता है। गौर करें तो शहरों की स्थिति भी इससे कुछ भिन्न नहीं ठहरती है। अंतर सिर्फ इतना है कि गाँवों की इस स्थिति के पीछे 'जाति' सक्रिय होती है तो शहरों में इस स्थिति के पीछे 'अर्थ' सक्रिय होता है। उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के त्रैत के प्रेत की उलट चाल को ठीक से समझें तो पूरी दुनिया भारतीय गाँव की इस टोला विभक्त संरचना की ही तरह आत्मविभक्त दिख सकती है। इस आत्मविभाजन के कूट संदेश और दंश को राष्ट्र के स्तर पर ही नहीं समुदाय के भी स्तर पर पढ़ना और महसूस करना होगा। तीखे वर्णविभाजनवाले हिंदी समाज में तो यह और भी जरूरी है। कहना न होगा कि विकास और उसके परिणामों की आंचलिकता को समझना ही होगा। इस समझ के आधार पर ही आज साहित्य और उसकी सामाजिकता की बुनियाद खड़ी हो सकती है। यह भी कि मानव विकास इसी बुनियादी जमीन पर जनतांत्रिक मूल्यों के सहारे मानवीय विभाजन की हर कूट-चाल को मानव विकास की मूल-चाल में बदलते हुए सांस्कृतिक संघर्ष की अंतर्धारा के विपथन को रोका जा सकता है। दायित्व के इस परिप्रेक्ष्य में आज साहित्य को टिकने का ठिकाना मिल सकता है! समझना ही होगा कि 'कितने पाकिस्तान' में यही विभाजन जीवन के प्रत्येक स्तर पर अनेकानेक 'पाकिस्तान' रचता है। यहाँ 'विभाजन' और 'पाकिस्तान' पर्याय बनते हुए दिखते हैं। यह एक खतरनाक बात है। यह पर्यायबोध ऐतिहासिक भूल के परिमार्जन के लिए प्रेरित करने के बदले उस भूल के द्वारा दिये गये ऐतिहासिक घाव को और हरा ही कर देने का नाहक खतरा उठाता है। एक उपन्यास के रूप में 'कितने पाकिस्तान' मानवीय सभ्यता के कई विभाजनकारी प्रसंगों में से एक प्रसंग को ठीक से पकड़ता तो है लेकिन उसका पर्यायबोध अपने अनवधान पाठकों को और सभ्यताओं के विकास की राजनीति के इतिहास को भी निरपेक्ष भौगोलिकता की खतरनाक अंधी घाटी में उतार दे सकता है। यही वह रचनात्मक अंधबिंदु है जिसके कारण 'कितने पाकिस्तान' अपने मकसद की ओर प्रेतचाल में, अर्थात् उलटे पाँव, आगे बढ़ता है – तकलीफ और छटपटाहट के साथ।

‘काशी का अस्सी’, ‘आखिरी कलाम’ और ‘कितने पाकिस्तान’ के रचनात्मक वितान की मुख्यभूमि की संवेदनात्मक नाभिकीयता में तत्त्वगत समानता है; ये संप्रदायवाद की समस्या की जटिलताओं और मानवीय संवेदनापटल पर पड़नेवाली तदुत्पन्न दरारों के विभिन्न आयामों को रचनात्मक अंतर्सूत्र के साथ प्रत्यक्ष करते हैं। इस रचनात्मक प्रत्यक्षीकरण के कलात्मक विनियोग में इनके पार्थक्य को भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। इन उपन्यासों का मुख्य सरोकार सांप्रदायिकता और मनुष्य को विभाजित करनेवाली राजनीतिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रवाह में ऊभ-चूभ करते मनुष्य की विडंबनाओं और व्यामोह की पारंपरिकताओं को रचनात्मक स्तर पर बरतने का बेकल प्रयास है। ये तीनों ही उपन्यास, निश्चित रूप से आज के राजनीतिक समग्र के सामाजिक दबाव को संवेदना के स्तर पर समझते हुए, त्रासद यथार्थ का पुनर्नर्वेण करते हैं। ‘काशी का अस्सी’ में यह काम बिल्कुल आज के संदर्भ और सरोकार पर खड़े होकर किया गया है। यही इसकी सबसे बड़ी ताकत है। इस उपन्यास में अतीत की काली छाया वर्तमान पर जरूर है, लेकिन वर्तमान अतीत का यात्री नहीं बनता है। ‘आखिरी कलाम’ वर्तमान के त्रासद यथार्थ को निकट अतीत से छानकर आज से जोड़ने के लिए मध्यकाल की यात्रा पर निकल पड़ता है। इतिहास बताता है कि मध्यकाल में सांप्रदायिकता थी ही नहीं, वस्तुतः 'भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यतः आधुनिक संवृत्तियाँ हैं। गत शताब्दियों में निश्चय ही हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं, वैसे ही जैसे कि शिया और सुन्नियों के झगड़ों अथवा जाति संघर्षों के। किंतु 1880 के दशक से पूर्व सांप्रदायिक दंगे कदाचित ही हुए हों।’<sup>5</sup> डॉ. नामवर सिंह इस बात को रेखांकित करते हैं कि इस प्रकार मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।<sup>6</sup> बावजूद इसके आखिरी कलाम यदि मल्लिक मुहम्मद जायसी को याद करते हुए और तुलसीदास से टकराते हुए मध्यकाल की अंतर्यात्रा से गुजरता है तो यह बिल्कुल बेवजह भी नहीं है। वजह यह कि भारतीय राजनीति के हालिया विकास के सांप्रदायिक अध्याय की प्राण-प्रतिष्ठा को मध्यकाल के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से अर्जित करवा पाने में धर्मधुरंधर धुंधकारी के वंशज बहुत हद तक कामयाब होते जा रहे हैं। कारण स्पष्ट हैं। ये धर्मधुरंधर धुंधकारी लोग आज के राजनीतिक संघर्ष को मध्यकाल के राजनीतिक संघर्ष से जोड़कर सत्ता हासिल करना चाहते हैं। यहाँ स्मरण किया जा सकता है कि मध्यकाल की राजनीति के संदर्भ राजतंत्र की अनिवार्यताओं से तय हुआ करते थे जबकि आज की राजनीति के संदर्भ निर्विकल्पतः जनतांत्रिक अनिवार्यताओं से

ही तय हो सकते हैं। इसलिए इन धुंधकारियों की जनतंत्रविरोधी सनक के मूल कारणों को समझना जरूरी है। इसी सनक में इनकी राजनीतिक काया के कफ, पित्त और वायु के विकार आज की आबादी को मध्यकाल की यात्रा करवाने पर आमादा हैं। इसी मध्यकाल में सूफी इस्लाम की शास्त्रीयता से और निर्गुनिया संत हिंदु धर्म की शास्त्रीयता से संघर्षशील थे। इस बात को समझना होगा कि तुलसीदास भी इस अर्थ में हिंदु धर्म की शास्त्रीयता से संघर्ष ही कर रहे थे कि वे प्रमुख रूप से शैव, शाक्त और वैष्णव के उस समय में प्रचलित शास्त्रीय विभाजन को नकार रहे थे। यह दीगर बात है कि तुलसीदास का यह संघर्ष मनुष्य को विभाजित करनेवाले शास्त्रों के अनौचित्य के खिलाफ न होकर मुख्य रूप से उसके औचित्य के क्षतविक्षत आधार को पुनर्निर्मित करने के सांस्कृतिक प्रयास से ही संचालित था। 'आखिरी कलाम' मध्यकाल की पेचीदगियों से जूझता तो है लेकिन ब्यूह की ढाँचागत अभियांत्रिकी को जानते हुए भी उसके संवेदनागत सरोकारों को अपनी रचनात्मक परिधि में समेट नहीं पाता है। कारण यह कि रचनात्मक के किन्हीं कलात्मक माँगों के दबाव के कारण वह अपनी रचनात्मक परिधि बनाने का प्रयास ही नहीं करता है! जबकि 'कितने पाकिस्तान' मध्यकाल से भी बहुत पीछे सुदूर अतीत के तहखानों की अंधी सुरंग में उतरता ही चला जाता है। यह उतार इतनी गहरी है कि पाठक को जो हासिल होता है वह रचना की ध्वनि नहीं उसकी प्रतिध्वनि की प्रतिध्वनि है। जैसा कि विनोद कुमार शकल के साथ होता है, 'कविता - मैंने आप से कहा।/ जो सुनाई देती है वह प्रतिध्वनि है/ जिसे मैंने आप से कहा।'<sup>7</sup> ध्यान देने की बात यह है कि जब यह एहसास शि-दूत के साथ होने लगता है कि 'अँधेरा हुआ/ आठवीं शताब्दी के अँधेरे की तरह/ मुझे लगता है वही चाय की दुकान होगी/ उसके पुराने दरवाजे को खटखटाता हूँ/ दरवाजा खुलता है/ यह दरवाजा भी मंदिर का है/ एक गरीब छोटी लड़की/ ढिबरी लिये खड़ी है/ यह एक छोटा-सा बहुत गरीब शिव का घर है।'<sup>8</sup> तब इस गहरे अंधकार में वही 'चाय की दुकान' का समकालीन यथार्थ 'बहुत गरीब शिव के घर' के यथार्थ के उलझाव में पड़ जाता है। ऐसे ही गहरे उलझाव में पड़ा हुआ है 'कितने पाकिस्तान' का अदीब तथा इतिहास पुरुष, और उधर तूरानी खलीफा के सातों नुमाइन्दे बादशाह सलामत जहाँगीर से मिलने के बाद सलतनत के बड़े-बड़े और अहम उमरा और हाकिमों से मिलकर गुप्त मंत्रणाएँ कर रहे थे, 'उनमें से एक कह रहा था इस्लाम परस्ती को हिन्दुस्तान परस्ती में बदल दिया जाए, यह मुनासिब नहीं है.... यही आपके बादशाह अकबर ने किया था और यही अब आपके शहंशाह जहाँगीर कर रहे हैं.... इन हालात पर आप लोग नजर रखिए.... वतन-परस्ती से ज्यादा जरूरी है मज़हब-परस्ती!'<sup>9</sup>

सुमित सरकार राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद को अनिवार्य रूप से आधुनिक संवृत्तियाँ कहते हैं। यहाँ राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद जैसी आधुनिक संवृत्तियों के पुराने मध्यकालीन सूत्रों को वतन-परस्ती और मज़हब-परस्ती के द्वंद्व में भी देखा जा सकता है। क्योंकि वतन-परस्ती और मज़हब-परस्ती का ही परवर्ती विकास राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद के रूप में होता है। वतन-परस्ती और मज़हब-परस्ती के गुत्मगुत्था का ही एक नतीजा यह है कि इतिहास पुरुष एवं आलमगीर औरंगजेब जल्लाद के बीच जारी बहस के बीच लगभग बेहोश-सी हो गई सलमा इस सवाल से निरंतर जूझती रहती है कि 'क्या मुसलमान होना और मुसलमान होकर जीना इतना मुश्किल बना दिया गया है.... क्या मुसलमान होकर जीने की शर्तें सिर्फ किताबों की शर्तें हैं? उनमें जिंदगी के कुदरती और बड़े उसूलों के लिए कोई जगह नहीं है?'<sup>10</sup>

जवाब इतिहास पुरुष देता है, -

'जगह है! इस्लाम में हर कुदरती ज़रूरत के लिए जगह है, लेकिन लेकिन जब मज़हब को सियासी फायदे के लिए नफ़रत में बदला जाता है, तो एक नहीं, तमाम पाकिस्तान पैदा होते हैं! मेरी बच्ची! तुम्हारी जिन्दगी को इस गलत विभाजन ने तोड़ दिया है, क्योंकि इन लोगों ने एक मज़हब के तहत एक कौम, एक मुल्क और एक तहज़ीब को तकसीम किया है!'<sup>11</sup>

'अदीब ने साइड केबिनेट में रखी किताब उठा ली .... उसके सफे वह यूँ ही फरफरा रहा था।

- कौन-सी किताब है ? सलमा ने पूछा।

-हूँ ... किताब देखकर अदीब बोला – बाइबिल!

-खुदा के लिए इन किताबों को बंद कर दीजिए!<sup>12</sup>

आगे यह भी कि

'-तो सिर्फ इन लाइनों का सहारा लीजिए...

-कौन सी लाइनें।

- कि धूप में निकलो, घटाओं में नहाकर देखो, जिन्दगी क्या है किताबों को हटाकर देखो....'<sup>13</sup>

‘कितने पाकिस्तान’ की ही तरह ‘आखिरी कलाम’ का भी नजरिया यही है, किताबें शक पैदा करती हैं।<sup>14</sup> आधुनिकता का प्रारंभ भी इसी शक से हुआ। जो किताब आस्था और विश्वास को अपना आधार बनाए और शक के लिए जगह न छोड़े वह किताब अपने सारांश में आधुनिक नहीं हो सकती है। किताबें शक पैदा करती हैं यह आखिरी कलाम का पहला वाक्य ही नहीं है, उसकी मूल रचनात्मक चेतना भी है। इसी मूल चेतना का रचनात्मक विन्यास पूरे उपन्यास में प्रतिफलित है। कितने पाकिस्तान में भी यह एक प्रमुख रचनात्मक चेतना के रूप में सक्रिय है। जिंदगी पर किताबों का बोझ इतना अधिक इसलिए भी बढ़ गया है कि उनमें लिखी अच्छी बातों को भी तोड़-मरोड़ कर हम या तो बुरी बातों में तब्दील कर देते हैं या फिर हिकारत से किताबी बातें कहकर अपना पल्ला झाड़ लेते हैं। इसमें दोष किताबों का नहीं हमारी मानसिकता का है। इस मानसिकता के चलते दोस्त किताब और दुश्मन किताब के अंतर को ध्यान में नहीं रखा जाता है। लेकिन असल बात यह है कि यहाँ किताब से आशय उन शास्त्रियताओं से है जिसके विरुद्ध सांस्कृतिक संघर्ष की अंतर्धारा सभ्यता प्रवाह में आवयविक रूप से गतिशील रहती है। यही गतिशीलता संस्कृति का प्रगति पक्ष विनिर्मित करती है। मतलबपरस्त लोग सांस्कृतिक संघर्ष की अंतर्धारा के विपथन में कामयाबी हासिल कर इतिहास को भी गुमराह करने में सफल हो जाते हैं। घायल इतिहास पुरुष की गंभीर आवाज आती है, ‘हिन्दुस्तानी इस्लाम भी यहाँ के दकियानूसी ब्राह्मणवाद का शिकार हुआ है! इस्लाम की रूहानी आत्मा से जो सूफी उदारवाद जन्मा था, उसे इस्लाम के इन कट्टर ब्राह्मणों ने हिकारत से नामंजूर किया था। खुद इन्होंने हिन्दुस्तानी इस्लाम को हिन्दू वर्णाश्रम धर्मवाले साँचे में ढाल लिया। नहीं तो क्या वजह थी कि जो भी हिन्दुस्तानी कलमा पढ़कर मुसलमान बना, मुगलिया सलतनत में वह खादिम और चोबदार के ओहदे से ऊपर नहीं जा सका.... यही था मुगलों का जातिवाद.... इसी जातिवाद के चलते सदियों पहले हिन्दू हारा था और इसी के चलते मुल्की-मुसलमान की मदद से मुगल महरूम रहे थे। जैसे हिन्दू क्षत्रिय का साथ हिन्दू दलित दलित ने नहीं दिया था, वैसे ही मुगल-क्षत्रिय का साथ मुल्की-मुस्लिम-दलित ने नहीं दिया था.... इसी इस्लामी-ब्राह्मणवाद ने अकबर की कोशिशों को नाकाम किया था.... इसी ने जहाँगीर को अपनी चपेट में ले लिया था। शाहजहाँ पूरी तरह इसका शिकार हुआ था और तब इस्लाम के नाम पर औरंगजेब मुसलमान-ब्राह्मण बनकर इन्सानपरस्ती को छोड़कर मज़हबपरस्ती के रास्ते पर चल पड़ा था!’<sup>15</sup>



# एक

साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास का आविर्भाव पुरा एवं मध्यकालीन महागाथाओं शास्त्रीय देवत्व के बाहर और विरुद्ध आधुनिक लघुगाथाओं की लोकनायकत्व के संयोजन से हुआ। भारत में साहित्य के प्रायः सभी प्रसंग 'रामायण' और 'महाभारत' से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से जुड़ते हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि 'रामायण' और 'महाभारत' भी अपने प्रारंभ में लोक नायकत्व से ही ऊपजे थे। कालांतर में इनका लोक नायकत्व शास्त्रीय देवत्व में अंतर्भुक्त होता चला गया। इस तरह बना यह कि रामचरित को अपना आधार बना लेने पर किसी का कवि बन जाना 'सहज संभाव्य' हो गया। कहना न होगा कि 'शास्त्रीय देवत्व' का विकास सामंतवादी मूल्यों के साथ होता है। ये दोनों परस्पर को पुष्ट करते हैं। सामंतवादी मूल्यों में व्यक्ति का व्यक्ति और समाज से संबंध का आधार कृपा का प्रसाद होता है। संघर्ष इसका सबसे बड़ा दुर्गुण होता है। समर्पण इसका सबसे बड़ा गुण होता है। अहेतुक विनयशीलता, जिसे नारी के संदर्भ में दैहिक लज्जा भी कहा जाता है, इसका भूषण होता है। अधिकार नहीं, मनुहार इसका तार्किक आधार बनता है। शरणागति इसकी मूलचेतना होती है और स्भावतः शरणागत-वत्सलता इसका चरम प्रदाय होता है। युद्ध शास्त्रीय देवत्व को खंडित नहीं करता है इसलिए युद्ध विनाशलीला नहीं सिर्फ लीला और खेल के रूप में चित्रित होता है। आधुनिक समय में लोकनायकत्व के सामाजिक संयोजन से उपन्यास संभव होता है। हिंदी साहित्य का संदर्भ लें तो स्वाभाविक रूप से उपन्यास ने कृपा और मनुहार के बदले अधिकार और आधिकारिकता के सवाल को, समर्पण के बदले संघर्ष को, दैहिक लज्जा के बदले चारित्रिक एवं मानसिक लज्जा को और शरणागति के बदले समवाय को महत्त्वपूर्ण माना। बदली हुई समाज व्यवस्था में उपन्यास ने जीवनमूल्यों के बदलाव को समझा। यह बदली हुई समाज व्यवस्था सामाजिक प्रक्रिया के सामंतवाद से पूँजीवाद में अंतरण के रूप में आविर्भूत हुई थी। ध्यान में रखने की बात है कि उपन्यास की पूरी काया तो पूँजीवादी समाज व्यवस्था के सामाजिक उपादान से विनिर्मित थी लेकिन इसकी आँख में समाजवादी समाज व्यवस्था के स्वप्न तैरते थे। पूँजीवाद सामंतवाद के मूल्यों के ढाँचों को तो बदलता है लेकिन उसकी अंतर्वस्तु उसे बहुत ही आकृष्ट करती है। ऐसे में स्वाभाविक ही है कि विमर्श के लिए वह सामंतवादी मूल्य से इतर पूँजीवादी मूल्य को तत्परतापूर्वक स्वीकारता है लेकिन अपने वैयक्तिक आचरण और सामाजिक व्यवहार में सामंतवादी मूल्यबोध से बहुत इतर नहीं होता है। इसलिए उपन्यास की आँख में तैरते समाजवादी स्वप्न उसे फूटी आँख भी नहीं सुहाते हैं। मजबूरी यह कि 'शास्त्रीय देवत्व' में निहित सामंती और 'लोकनायकत्व' में निहित समाजवादी तत्त्वों में से कोई भी उसके पूर्ण उपयुक्त नहीं होता है। ऐस में स्वाभाविक

रूप से एक किस्म के 'शास्त्रीय नायकत्व' की खोज होती है। इस खोज में जिस विधा का जन्म होता है उसे 'आख्यायिका' या 'उपाख्यान' कहते हैं। एक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास ने अपने जन्मकाल से ही सामाजिक तरंग को अपना अंतरंग बनाया। सफल उपन्यास का अंतरंग सामाजिक तरंग के रचनात्मक सहमेल और सातत्य से अभिन्न तो अवश्य ही होता है। आज समाज में कई प्रकार के तरंग हैं। इन तरंगों का संबंध जीवन के अंतर्संबंधों से तो है ही, इन अंतर्संबंधों के मुख्य आधार के भौतिक विकास की वक्र-रेखाओं से भी बहुत गहरा है। आज के एक प्रमुख सामाजिक तरंग के उत्स को ध्यान में लाएँ तो कहना पड़ेगा कि चाहे जैसे भी हुआ हो, लेकिन हुआ यही है कि विज्ञान के व्यापक विकास के सहमेल और सातत्य में विज्ञानसम्मत मनोभावों का जितना सहज विकास होना चाहिए था उतना संभव नहीं हो पाया है। नतीजा यह है कि वैज्ञानिक उपकरणों का इस्तेमाल भी सामाजिक अंधत्व को बढ़ाने में बहुत ही सफलतापूर्वक कर ले जाना भी सहज ही संभव होता हुआ देखा जा सकता है। इसीलिए, धर्मों में निहित अंधत्व को विज्ञान के आलोक से दूर करने के बदले वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से धार्मिक अंधत्व को सामाजिक अंधत्व में बदलकर सामाजिक संघात, जिसे सभ्यताओं के संघात जो वस्तुतः धर्म और नस्ल पर आधारित संघात है, के रूप में भी पेश किया जाता है। ऐसा करते हुए विज्ञान, शोषण के विरुद्ध नहीं बल्कि शोषण की प्रक्रिया में, शोषकों का शस्त्र बन जाता है। हमारे समकाल के भारतीय संदर्भ का अंतरंग जिस कोलाहल से भरा है उसकी सबसे कर्कश आवाज धन और धर्म के हलाहल से संपीडित है। ऐसे में विधागत पारंपरिक ढाँचों के टूटने से उपन्यास में आ रहे आख्यानमूलक बदलाव सिर्फ इसके ढाँचों के बदलाव को ही नहीं इसकी अंतर्वस्तु में होनेवाले अनिवार्य बदलाव को भी संकेतित करते हैं। अंतर्वस्तु में होनेवाले इस अनिवार्य बदलाव के खतरों से रचना के स्तर पर कैसे बचा जा सकेगा यह तो आनेवाली रचनाओं से ही स्पष्ट हो सकेगा। प्रेमचंद के शिल्प को एक बार फिर नये सिरे से समझने की जरूरत है। शायद यह समझ इस बचाव में महत्वपूर्ण ढंग से मददगार हो! इन दिनों पूरी सभ्यता जैसे अपने पुनर्न्वेषण के दौर से गुजर रही है। इस दौर में पुनर्संयोजन का काम बड़ी तत्परता से हो रहा है। जाहिर ऐसे समय में बहुत सारी पुरानी रुढ़ियाँ टूटती तो हैं, लेकिन बहुत सारी नई रुढ़ियाँ बनने भी लगती हैं। परंपरा को खँगालना ऐसे दौर का एक प्रमुख लक्षण है। खँगालने का यह काम परंपरा के महत् को बचाये रखने के लिए, उसके मोतियों को निकाल लेने के लिए होता है। इस प्रक्रिया में परंपरा नये प्रकार के तहस-नहस से गुजरती है। परंपरा में मोती क्या है, उसका महत् पक्ष क्या है, वह कौन-सी चीज है जिसको बचाया जाना सबसे जरूरी है, किसके लिए नूह की नौका में जगह बनाना जरूरी है और किस को नूह की नौका में

जगह नहीं देनी है, इसे तय करना बहुत आसान नहीं होता है। ऐसे दौर में 'रक्षा में हत्या' की भी कई कहानियाँ सामने आती हैं। कई बार परंपरा का प्रगति तत्त्व नष्ट हो जाता है और नष्ट किये जाने लायक प्रगतिरोधी तत्त्व बड़े ठाठ से मुस्कराता हुआ जीवन में बना रह जाता है। जैसे चलते-चलते घिस जाता है जूते का तल्ला, बची रह जाती हैं उसके अंदर हँसती हुई छोटी-छोटी कीलें।

## इधर

हिंदी साहित्य के पाठकों की कमी को लेकर हम काफी चिंतित रहे हैं। साहित्य की पठनीयता के संदर्भ में हमारी चिंताओं का एक सिरा पाठकों के स्वभाव में आये परिवर्तन से जुड़ता है तो एक दूसरा सिरा खुद रचनाओं के बनाव में आये परिवर्तन से भी जुड़ता है। सामान्य स्थिति में पाठ और पाठक के बीच किसी तीसरे की उपस्थिति काम्य नहीं होती है। कुछ दूर तक और कुछ खास प्रसंग में पाठ और पाठक के बीच के ऐकांतिक संबंध के प्रति हमारे मन में आदर के भाव होने ही चाहिए। इस आदर के बावजूद तीसरे की जगह के होने के महत्व को नजरअंदाज करना भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस तीसरा का ही समेकित नाम समाज है। समाज जीवन का तीसरा पक्ष होता है, तीसरा आयाम। ऐसा आयाम जो कई बार सीधे-सादे ढंग से दिखता नहीं है, लेकिन समझदार लोग उसकी अनिवार्य व्याप्ति को मानकर चलते हैं। सबसे सीधा संबंध प्रेम का होता है। ऐसा संबंध जिसमें तीसरे तो क्या दूसरे की ही उपस्थिति को अवरोध माना गया है, प्रेम गली अति साँकरी ता में दो न समाहिं<sup>16</sup>। लेकिन इस कामना के बावजूद तीसरे तत्त्व और आयाम के रूप में प्रेम गली के अस्तित्व से भी क्या इनकार किया जा सकता है! 'कितने पाकिस्तान' मनुष्य की जिन्दगी के गलत विभाजन की युक्ति के खिलाफ सभ्यता के बनाव में इस तीसरे आयाम के समुचित समावेश के संधान के लिए अतीत के प्रेत के साथ सभ्यताओं की गलियों में उलटे पाँव की यात्रा करता है। सच के पीछे मुस्कराते हुए झूठ और झूठ के पीछे कराहते हुए सत्य अदीब के दरबार में हाजिर होते हैं। कठिनाई यह है कि विभाजन और पाकिस्तान पर्याय बनते हुए दिखते हैं। यह एक खतरनाक बात है। हालाँकि, 'काशी का अस्सी', 'आखिरी कलाम' और 'कितने पाकिस्तान' को पाठकों की कोई कमी नहीं है, फिर भी पाठक को पूछने का हक तो होना ही चाहिए कि क्या 'कितने पाकिस्तान' के प्रेत का बयान बन जाने के इस नाहक खतरे से बचने का कोई रचनात्मक उपाय रचनाकार के पास सचमुच नहीं था!

## संदर्भ:

1. नागार्जुन रचनावली -1: प्रेत का बयान: युगधारा/ नवयुग, 17 सितंबर 1950
2. प्रो. अमर्त्य सेन: आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य - अकाल ओर अन्य आपदाएँ (अनु. भवानी शंकर बागला) राज प्रकाशन 2001
3. मानव विकास रिपोर्ट: 1996 (HDR-1996: Growth as a means to human development)
4. वीरेन डंगवाल: दुश्क्र में स्रष्टा: रात गाड़ी (मंगलेश को एक चिट्ठी )
5. सुमित सरकार: आधुनिक भारत का इतिहास: सांप्रदायिक चेतना
6. डॉ. नामवर सिंह: भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोक धर्म
7. विनोद कुमार शुक्ल: अतिरिक्त नहीं
8. विनोद कुमार शुक्ल: अतिरिक्त नहीं
9. कमलेश्वर: कितने पाकिस्तान
10. कमलेश्वर: कितने पाकिस्तान
11. कमलेश्वर: कितने पाकिस्तान
12. कमलेश्वर: कितने पाकिस्तान
13. कमलेश्वर: कितने पाकिस्तान
14. दूधनाथ सिंह: आखिरी कलाम :गृह-जंजाल
15. कमलेश्वर: कितने पाकिस्तान
16. कबीर का संदर्भ

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान